अनंत की अनुगूंज

BHARATI'S
AL MUSIC

पकुमार ज. टोलिया, 'निशान्त'

अनंत की अनुगूंज

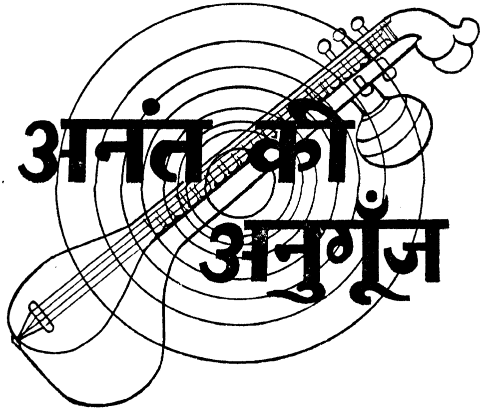

चीख और चिल्लाहटों से परे मौन का मुखर होना और तब गूंजना नीरवता का । अनंत की इस नीरव गूंज से उठती है अनुगूंज । यही सब कुछ तो संजोया है इस आध्यात्मपरक काव्य पुस्तिका में ।

प्रश्न हैं समाधान हैं लेकिन अनायास ही सब कुछ रहस्यमय हो उठता है। गंतव्य की तलाश है, फिर फिर लौट आने की विवशता है । भ्रान्त भटकन से श्लथ है शरीर लेकिन इस श्रांति में भी प्रज्वलित है आत्मज्योति । एक अक्षुण्ण लौ से पथ दीप्तिमान है ।

अंतर्यात्रा के लिए प्रशस्त पथ है । पथ, जो दौड़ा जाता है सुदूर तक, अव्याबाध और लगातार चलते रहना यह है नियति । एकाकीपन में अपने से अपनी 'आयडेण्टिटी' की पूछ परख, प्रकृति के उपादानों में अपनी खोज और दूसरे ही क्षण अनन्त से जुड़कर सब जगह अवस्थिति का बोध । विवेक, पथ का सजग प्रहरी है ।

समर्पण :

अनंत, अज्ञात के पथ की अन्तर्यात्रा के
दो पहुँचे हुए पावनात्मा महायात्री :

प्रज्ञाचक्षु डा. पं. श्री सुखलालजी

एवम्

प्रेमयोगी स्व. गुरुदयाल मल्लिकजी

एक प्रज्ञापुरुष, दूसरे प्रेमपुरुष ;
एक विद्यमान, दूसरे विदेहस्थ;
एक अमृता आत्म-विद्या के प्रदाता,
दूसरे परम, चिरंतन प्रेम के शास्ता, ऐसे
दोनों उपकारक गुरुजनों के चरणपद्मों में
विनम्रभाव से समर्पित हैं –
– मेरी अन्तर्यात्रा की ये कुछ अनुगूँजें ।
मेरी क्या, उनकी ही हैं ये सब –
जिनकी अनुगूँजों के स्वर ही मेरी इन
अनुगूँजों में मिलकर मुखरित हुए हैं :

'मेरा मुझ में कछु नहीं है, जो कछु है सो तेरा,
तेरा तुझ को सौंपते, क्या लगेगा मेरा ?'

अतः उनका उन्हें ही समर्पित कर मैं मुक्त
होता हूं अपने अहम्-बोझ से और अनुभव
करता हूं कृतकृत्यता ।

— *'निशान्त'*

अनंत की अनुगूँज

– रचयिता –

प्रतापकुमार ज. टोलिया 'निशान्त'

– प्रकाशक –

दक्षिणापथ साहित्य सभा,

वर्धमान भारती,

'अनंत', १२, केम्ब्रिज रोड, अलसूर, बेंगलोर-८

PIN-560008

• *प्रकाशक*

वर्धमान भारती,
'अनंत',
१२, केम्ब्रिज रोड,
अलसूर, बेंगलोर–८
फोन : [redacted]

• *प्रथम आवृत्ति*

1 9 7 2

• *प्रति संख्या*

1 0 0 0

• *मूल्य*

रु० 1–50

• *कापीराइट*

'वर्धमान भारती'

• *मुद्रक*

वैशाली प्रिंटर्स,
चिकपेट, बेंगलोर–53

मुखरित मौन

दैनंदिन जीवन की जन्म से मृत्यु तक की बाह्ययात्रा की पश्चाद्भू में अनवरत गतिशील रहती है भीतरी जीवन की एक अन्तर्धारा (Under Current), एक अन्तर्यात्रा । इस अन्तर्यात्रा के सजग पथिक को अपने 'अहम्' के केन्द्र से उठकर अग्रसर होना पड़ता है । तब चलने वाली उसकी सुदीर्घ यात्रा यात्रिक को उसके 'अहम्' (बहिरात्मदशा) के कुंठित केन्द्र से उठा-उखाड़कर 'नाहम्' : 'मैं नहीं हूं' (अंतरात्मदशा) के दूसरे आयाम और क्रमशः 'कोऽहम् ?' : 'मैं कौन हूं?' (आत्मदशा) के तीसरे आयाम से पार कराकर, अन्ततोगत्वा, 'बहुनाम् जन्मानाम् अन्ते', उस चौथे और अंतिम आयाम की ओर ले जाती है, जहां उसे स्वयं ही उस अनंत, अज्ञात सत्ता का अनुभव हो जाता है: 'सोऽहम्' 'मैं वही हूं' (परमात्मदशा) । यह है वह अन्तर्यात्रा : 'अहम्' से 'सोऽहम्' की, बहिरात्मदशा से परमात्मदशा की ।

किसी विशेष शुभ प्रस्थान के लिए गतिशील प्रामाणिक पथिक को बाह्यजीवन में जैसे शहनाई के-से मंगलवाद्यों के स्वरों की गूँज और शुभेच्छकों की शुभकामना के शब्द सुनाई देते हैं, वैसे ही अज्ञात अनुग्रह से इस अन्तर्यात्रा के पथिक को अपने यात्रापथ पर सुनाई देने लगती है उस अनंत, अज्ञात सत्ता की शुभ संकेत सूचक अस्वर, नीरव गूँज । दूर असीम, ऊर्ध्व आकाश में मानो वह अज्ञात बजाये जाता है अपनी अदृश्य शहनाई, अदृश्य बीन, उठते रहते हैं उससे अनाहत नाद और सुनाई देती है उसकी अल्प-सी निःशब्द गूँज । ध्यान की, 'ध्यान-संगीत' की,

नीरव, निस्पन्द दशा में, वचन और मन के मौन की *आनन्दावस्था* में उस अंतर्यात्रा के उन्नत प्रदेशों में संचरण के समय इस गूँज से उठनेवाले आन्दोलन अपने अंतर्लोक में प्रतिध्वनित होते हैं और इन प्रतिध्वनियों से उठती रहती हैं मेरे आहतनाद की गुनगुनाहट भरी अनुगूँजें । मौन तब मुखर होता है, 'निःशब्द' तब 'शब्दस्थ' होता है, बेशक अल्पांश में ही । अन्तर्यात्रा के पथ पर गुरुजनों के एवम् उस अज्ञात सत्ता के अनुग्रहों से और अपनी अनुभूतियों से उठनेवाली ऐसी कुछ अनुगूँजों का संग्रह है यह संकलन ।

साहित्य का अल्प अभ्यासी, अंतर्पथ का एक अदना-सा यात्री और उस अनाहत नाद का एक दूरस्थ श्रवणार्थी होने से, अज्ञात की उन गूँजों का मैं एक छोटा सा अनुगूँजक हूं । बड़ों के अनुग्रह से और अपने पुरुषार्थ से अन्तर्यात्री के भीतरी कानों में जब उस गूँज को सुनने – समझने की श्रवणक्षमता और सजगता आ जाती है तब वह गूँज सहज ही कुछ कुछ सुनाई देने लगती है और अन्तर्लोक में उसकी प्रतिध्वनियाँ अनुगूँजित होने लगती हैं । यही है थोड़ा सा इतिहास–आपके समक्ष प्रस्तुत इन अनुगूँजों का ।

मैं चिरकाल के लिए अनुगृहित हूँ – उन महान आत्माओं का, जिन की गूँजों ने मेरी अनुगूँजों को जागरित किया । मैं अनुगृहीत हूं वैशाली प्रिंटर्स के संचालकों का, जिन्होंने इस संग्रह को सूक्ष्मता व कलात्मकता से मुद्रित किया ।

यदि ये मेरी अनुगूँजें किसी अभीप्सु की एकाध अनुगूँज को भी अनुप्रेरित कर सकीं तो मैं कृतार्थ होऊंगा ।

'अनंत', १२, केम्ब्रिज रोड, *प्रतापकुमार ज. टोलिया,*
अलसूर, बेंगलोर–८. 18–1–1972 *'निशान्त'*

अनुगूञ्ज के स्वर

- अनंत की अनुगूँज ७
- पथ और प्रहरी ८
- प्रत्यागमन मन का ११
- कौन है वह मौन ? १२
- तू कौन है तू कौन ? १३
- मैं चल रहा हूं १५
- कौन ? १६
- असीम की ओर उड़ान १७
- मौन गगन १९
- खण्डहरों में ख्वाहिशों के २०

- तितली और मुक्ति — २२
- वेदना का ज्वार — २३
- अंतस्दीप — २४
- पुष्प एकाकी — २७
- 'गांधी हत्यारा था' (?) — २९
- बिन मांगे मोती मिले — ३६
- क्या यह भी कोई जीवन है — ? — ३७
- प्रगटो, अब मोरे प्राण ! — ४०
- बातें अनकहीं — ४१
- मैं मौन जगाने आया — ४३
- मौन - अनंत का वातायन — ४४
- अनुच्चारित अनुगूँज — ४६

अनंत की अनुगूँज

अंतस् की यात्रा के पथ पर,
गूँज उठी अज्ञात की पल पल,
अनंत की उस नीरव गूँज से,
उठी अनुगूँज सरित्-सी कलकल !

पथ श्रौर प्रहरी

देखता हूँ -
यह पथ दौड़ा जाता है दूर तक, सुदूर तक ....
क्षितिज के उस पार, गन्तव्य की ओर ।
और वापिस भी लाता है वही इस छोर :
सापेक्ष श्रौर 'द्विमुख' जो ठहरा !
अचानक चल देता हूँ उस पर -
कभी किसी के पीछे, कभी अकेला मस्ती में आकर
कौतुहलवश, विवेकहेतू शून्य या भ्रांतहेतू कभी
बनकर !
और, न जाने क्यों, पुनः लौट श्राता हूं मैं -
- वैसा ही वैसा पूर्ववत् !
या तो कभी, गन्तव्य के नशे से भरा हुश्रा !
सोचता हूं -
' यदि श्रा ही जाना है फिर आज के स्थान पर
गन्तव्य तक जा भी आकर -
तो तात्पर्य क्या है इस पंथ का, गन्तव्य का,
गमन का, प्रत्यागमन का ?

क्या भ्रान्त यह गमनागमन, यह पथ,
यह गन्तव्य भी ?
और गन्तव्य का नशा उन्मत्त अगम्य, भी ? '
बोलता है तब कोई भीतर से :
' गंतव्य तो वही - चढ़ना, ऊपर उठना वही -
जिसमें न हो उतरना कभी .. !
और फिर निश्चय ही ये झूठ :
पथ, गमनागमन और गंतव्य सोचे हुए -
ऊपर से, तन-मन से, बाह्यालोक से ।
वह पथ ही सही, प्रकाशित जो अंतस् के आलोक से'
सुना, सुन कर सहम गया, साथ ही स्वस्थित भया,
तुष्ट और परितृप्त हुआ ।
और तब ....
पथ मेरी दृष्टि से ओझल हुआ -
- वास्तव में होते हुए भी !
अब, कभी कभी,
दृष्टि दौड़ी जाती है बाहर,
भुलावा देकर, चोर की भाँति,
बेचारी आदत की मारी,

उस दौड़ते हुए पथ पर ।
किन्तु जाती है पकड़ी वहीं,
सहसा, किसीसे एकदम,
द्दष्टा के पास, उस दौड़ते हुए पथ पर,
खड़ा जो सजग प्रहरी बन कर-
-वह है विवेक : चिर सजग प्रहरी इस पथ का ।
यह पथ -
जो दौड़ा जाता है दूर तक, सुदूर तक !

प्रत्यागमन मन का !

आत्म-प्रदेश के गहरे गह्वर से -
उठा किसी दिन प्राण :
धधकती धड़कनों, प्रश्वासों-स्पंदनों से भरा ।
प्राण के इन स्पन्दनों से लहरा रहा मन :
उड़ान और आवागमन करता हुआ ।
बहुत भटका, न कहीं अटका, न शीघ्र लौटा और
बीत चुका यों ही, कितना ही अपरिमित काल !
पर फिर एक दिन, घडियाँ छिन छिन,
भटक भिन्न भिन्न, होकर संलीन वह
आया लपट में प्रश्वासों की प्राण के,
और प्राण पहुंचा जब उस परिचित देश,
आत्म-प्रदेश के प्रांगण भाण में !
तब मन बैठ गया तुरन्त वहीं,
चरम बिन्दु तृप्ति का आ गया सही,
अब भटकना रहा नहीं शेष कहीं ।

कौन है वह मौन ?

प्रश्न एक उठा अंतस् से :
‘तू कौन है?’
फिर रुक कर पूछा उसी ने :
‘क्यों मौन है?’
तब मौन में ही कहा किसी ने :
‘कैसे कहुँ जब मैं ही नहीं जानता कि,
मुझ में कौन है जो मौन है?’
और मौन ने आरंभ की तब खोज छिपे उस
‘कौन’ की,
तलाश ही लेता चला भीतर के कोने-कोने की :
मैं कौन .... ? मैं कौन .... ? मैं कौन ?
पर अभी भी प्रत्युत्तर था मौन .... ।
अंत में किसी शून्य वेला में हुआ अनुभव,
समाधान, अभिन्न :
‘मैं भिन्न हूँ मैं भिन्न, सर्वथा भिन्न
न कहीं तल्लीन न कहीं दीन-हीन;
मैं भिन्न हूँ मैं भिन्न, सर्वथा भिन्ना !’

तू कौन है, तू कौन ?

यह उठती पुकार :
'तू कौन है, तू कौन ?
चैतन्य की फुहार !
क्यों मौन है तू मौन ?'
यह उठती पुकार १

ये चहचहाती चिड़ियाँ,
सहमी हुईं दिशाएँ,
पेड़ों की गहरी छाया,
चट्टान और शिलाएँ -
सब पूछते हैं मुझ को :
'तू कौन है, तू कौन ?' २ यह

रवि की रजत - सी किरणें,
ये झूमती हवाएँ,
इठलाते हुए बादल,
ये मस्त - सी फिज़ाएँ,

सब पूछते हैं मुझ को :
‘ तू कौन है तू कोन ?’ .... ३ यह

ये मुस्कराते चेहरे ,
ये फरफराते कुहरे,
ये जल के कूप गहरे,
ये लोग जो हैं ठहरे,
सब पूछते हैं मुझ को :
‘ तू कौन है, तू कौन ?’ .... ४ यह

मैं चल रहा हूं

मैं चल रहा हूं -
सब जगह, सब समय
मेरे 'अहम्' को साथ लिये,
चेतना मूर्च्छित किये,
बुझा के होश के दिये !

अब छूटना है इस क्रम को,
अब टूटना है इस भ्रम को,
अब जुटना है यहीं श्रम को,
और मुड़ना है यहीं पथ को,
सजग, चिर अमूर्च्छित बन .. !

और तब रहेगी चेतना, 'मैं' ना रहूँ,
बस इतना कहुं : 'मै चल रहा हूं !'

कौन ?

गा रहे हैं पंछी -
उनमें भर रहा है स्वर कौन ?
झूम रहे हैं पत्ते -
उनमें भर रहा गति कौन ?
घूम रहे हैं बादल -
उनमें संचार कर रहा कौन ?
गूंज रहे वन - प्रान्तर -
उनमें गूँज भर रहा है कौन ?

छिपा अज्ञात इस ज्ञात जग के पीछे है कौन ?
छिपा निःस्वर इन वि-स्वरों के पीछे कौन ?
ठहरा अरूप इन रूप - विरूपों के भीतर कौन ?
छाया अदृष्ट इन दृष्ट - दृष्यों के पीछे कौन ?
समाया असीम इन सीमाओं के भीतर कौन ?

एक तत्त्व ही शायद, छिपा सभी के पीछे,
लहरा रहा चैतन्य एक ही सब के नीचे !

असीम की ओर उड़ान

पेड़ उड़ रहे थे -
क्षितिज - रेखा के उस पार,
असीम आसमान की ओर,
धरा से निज-मुखों को मोड़,
सीमाएँ छोड़, रिश्तों को तोड़,
गाते हुए, झूमते हुए, इठलाते हुए :
अपनी जड़ों के साथ !
जड़ें वे पुरानी
अधोगमन की ओर उन्हें जो ले जाना चाहती थीं !
किन्तु,
सफल नहीं हुईं वे -
नित्य ऊर्ध्व - गगन की प्राप्ति की,
आकाश के प्रति उड़ान की,
पेड़ों की छटपटाहट के सामने !
उन्हें भी उड़ना पडा उखड़ कर
ऊर्ध्व-दिशा में गगन की ओर !

पेड़ -
अब वे धरती से उठ चुके हैं,
ऊर्ध्व की अनंत यात्रा को चल पड़े हैं,
निरंतर उड़ते ही जाते हैं, उड़ते ही जाते हैं -
उन्हें न कोई रोक है, न कोई अवरोध -
वे उड़ रहे हैं -
गाते हुए, झूमते हुए, इठलाते हुए -
असीम की ओर !

चेतन की यात्रा

'चल' से 'अचल' अचल से निश्चल
कर के अंत में पार 'चलाचल',
चलती रहे चेतन की यात्रा,
लोकालोक अंतस् में पलपल।

मौन गगन

यह मौन गगन मेरा जीवन,
यह मौन भवन मेरा जीवन,
इस में उमड़ते बादल मन के,
रंग - बिरंगे नित्य नूतन .... ।
यह मौन गगन .. १

उठती लहरें ये सागर से,
भीतर के भी आगर से,
छू छू कर ये कण कण को,
बरसा देती हैं अभिनव घन .... ।
यह मौन गगन २

'(तू) कौन ? कौन ?' के घोष उठे यह,
(पर) मौन मौन सब बन गए रह,
कोने कोने को भर भर के,
छोड़ गए नीरव गूँजन .... ।
यह मौन गगन ३

ख्वण्डहरों में ख्वाहिशों के

ख्वाहिशों के खण्डहरों में,
ख़ाक ख़ुदी की खोजता हूँ .... !

अंगारे - सी ख़ुदी ने ख़ुद,
ख्वाहिशों का महल रचाया,
अरमानों के रंगरूपों से,
भर भर उसको खूब सजाया,

कैसे अचानक किन शोलों ने,
उसको है क्यों करके जलाया ?
देखके हालत खण्डहर की खुद,
यह तो रहा मैं सोचता हूं .... !
ख्वाहिशों के ख़ण्डहरों में १

खड़ा खण्डहर दूर बेचारा,
ख़िड़कियों से कराह रहा है,
आहें भरता निःश्वासों में,
दिन रात जिसने दाह सहा है,

महल नहीं अब मिट्टी बनने,
अपने दिल से चाह रहा है,
उस प्यासे के बिखरे आँसू,
जा कर रहा मैं पोंछता हूँ .... !

ख्वाहिशों के खण्डहरों में २

नामो-निशाँ नहीं खुदी का अब,
जलकर खुद जो ख़ाक हुई है,
जलने से ही रूह उसी की,
वाकई में जो 'पाक' हुई है,

मातम-सी उस ख़ामोशी से,
बोल खुशी के खोजता हूं,
ख़ाक खुदी की खोज खोज के,
खुद खुदा को खोजता हूँ .... !

ख़्वाहिशों के ख़ण्डहरों में ३

तितली और मुक्ति

सर पटकती, पर फरफराती,
टकरा रही थी तितली खिड़की से :
बंद द्वारों से बाहर जाने, मुक्ति पाने ।
बहुत मथा, कुछ काल बीता, पर निकल न पाई
और लगी रही वह टकराने ।
आया अचानक पथिक कोई,
खोली खिड़की, उड़ गई सोई ।
जीवात्मा भी ऐसे ही टकराती रहती :
सर पटकती, दर दर भटकती,
मन मसोसती, तन खसोसती,
हाथ मचलती, पाँव कुचलती,
भीतर झुलसती, बाहर उलझती .... !
पर जब तक मिले न हाथ को थामनेवाला,
बंद द्वारों को खोलनेवाला, लंबी नींद को तोड़नेवाला
ज्ञानी, सद्गुरु, राही, संग युक्ति,
तब तक क्या सम्भव है मुक्ति ?

वेदना का ज्वार

अंतस् के सागर से उठता है,
उमड़ता है, वेदना का ज्वार :
टकराता है सीमाओं की दीवारों से,
लांघ कर पार जाता है किनारों से,
और मौन ही लौट आता है मिनारों से,
और खो जाता है सागर में।
कुछ क्षण बीते कि वह फिर उठता है, उमड़ता है,
टकराता है, झकझोर देता है-स्थूल की दीवारों को,
और तोड़ देता है जीर्ण शीर्ण किवाडों को,
आवृत्त कर तट की रेतों को, उन्मुक्त प्रदेशों को.... !
और वह उठता ही रहता है, उमड़ता ही रहता है -
लगातार, तार-बेतार, कतार की कतार,
सागर के पार, दिवस और रात, संध्या और प्रात,
तब तक, कि जब तक वह कर न दे अशेष;
शून्यशेष, परिशेष, समग्र सीमाओं को !
क्या सचमुच, तब तक वह उठता ही रहेगा ?
उठता ही रहेगा ? उमड़ता ही रहेगा ?

ग्रंतस्दीप

दीप -

न केवल बाहर के, न केवल भीतर के !

केवल बाहर के भी गलत, केवल भीतर के भी,

एक ग्रपेक्षा से, आरम्भ में,

गलत --- ग्रन्त में सही होते हुए भी !

क्यों कि उसके भीतरी रूप का 'रूपक',

उसके भीतरी रूप की 'उपमा' भी

बाहरी दीप के निमित्त - कारण से ग्राई न ?

बहिर्दीप-दर्शन से ही ग्रंतर्दीप की स्मृति जगी न ?

साकार दर्शन, साकार ध्यान है बाहरी दीप;

निराकार दर्शन, निराकार ध्यान है भीतरी दीप।

अपेक्षाभेद से, अवस्था भेद से, भूमिका भेद से

कहीं बाहरी दीप उपादेय, उपयोगी, हो सकता है,

कहीं भीतरी दीप।

ग्रतः मैं कहता हूँ :

जब तक अवस्था न हो जायँ

भीतरीदीप की अंतस् लौ में ही घुल मिल जाने की,
समा जाने की, रमा जाने की,
तब तक आत्मवंचना, मिथ्या आग्रह,
परोक्ष दम्भ क्यों करें -
- केवल भीतरी दीप के ही जगने का ?
भीतरी दीप तो तब ही जगा मानुं,
जब कि वह अखंड जलता रहे, और कभी बुझे नहीं !
जब कि वह हरस्थल जलता रहे, कहीं बुझे नहीं !!
'उठत बैठत कबहु न छूटै, ऐसी तारी लागी'
की भाँति ! ! !
वह दीप है 'सहजात्म स्वरूप' का,
'स्वयं' की स्मृति-सुरता और 'परमगुरु' का ।
जो बाहर से भीतर की ओर सहज ही जग जाता है
और जग जाने के बाद कभी न बुझ पाता है ।
अतः उस दीप को ही क्यों न जलायें ?
उस 'अनुभवनाथ' को ही क्यों न जगायें ?
उसे ही जलाना - जगाना है, उसे ही पाना है,
वही गंतव्य, वही सार सर्वस्व प्राप्तव्य है ।
किंतु एकांग उपेक्षा कर बाहरी दीप की

वहां नहीं पहुँचना है, पहुँचा जाता भी नहीं ....
भ्रम में हैं वे जो वैसा दावा करते हैं ।
क्या वे उस पगले की ही स्मृति नहीं दिलाते,
जो कि, कभी न कभी सीढ़ी पर चढ़ कर, फिर,
सीढ़ी को ही देता हो गाली ?
आख़िर डर क्यों है बाहर के दीपों का ?
क्या भीतरीदीप जलाने का लक्ष्य रखकर
बाहर का दीप जलाया नहीं जा सकता ?
और यदि केवल बाहर का दीप ही बाधारूप है,
तो बाहर की सारी योगप्रवर्त्तना -
मन-वचन-कर्म के कार्य व्यापार - को
भी बाधारूप क्यों नहीं माना जाता ?
उसे ही क्यों नहीं रोका जाता ?
केवल भीतरीदीप के ही जलाने की बात तो
तब ही सर्वथा सच हो सकती है जब कि,
सारे जीवन व्यापार सर्वथा स्थगित हो जायँ,
शमित हो जायँ, 'स्वरूप' में संस्थित हो जायँ !
और शेष रह जाए केवल अंतस् - का दीप,
केवल उसकी अखण्ड, अक्षय, अक्षुण्ण लौ ।

पुष्प एकाकी

यह पुष्प सुवासित
स्मृति दिलाता है - मेरे एकाकी- अकेलेपन की !
आज मेरी मेज पर अकेला वह भी जो पड़ा है !!
फिर वह स्मृति दिलाता है -
मेरे आगत, विगत, अतीत की,
जब कि ऐसे ही पुष्प,
एक नहीं दो दो,
रोज मेरी मेज पर रहा करते थे :
किसी के द्वारा चुपचाप,
मेरे ज्ञाताज्ञात रूप के प्रति रखे जा कर !
आज ....
न वे पुष्प हैं .... !
न वे पुष्पित दिन .... !!
और न निकट वह पुष्प-समर्पिता !!!
बस
स्मृतिभर है अब उस की,

बात नहीं किसी के बस की,
उत्तर - दक्षिण के दो दिश की .... ।
वे पुष्प -
जो रोज रखे जाते थे नये नये,
कभी के सभी वे कुम्हला गये,
काल के कराल गाल में समा गये,
चला - प्रचला बन मन को रमा गये,
वैसा ही यह पुष्प फिर
आज तो जो राह से मिला हुआ
और मैंने ही उठा लाकर रखा हुआ,
मेरी मेज पर - जहाँ वह
अकेला, खण्डित - सा पड़ा है ।
यह पुष्प सुवासित
असंग, एकाकी, अकेला,
एकान्त नितान्त में, नीरव निशान्त में,
स्मृति दिलाता हुआ - मेरे ही एकाकी,
अकेलेपन की, और तत्त्ववचन की भी कि,
' एगोऽहं नत्थि मे कोई । '

गांधी शताब्दी के अवसर पर गांधी को हत्यारा सिद्ध करने को प्रवृत्त आचार्य रजनीश को समर्पित ...

'गांधी हत्यारा था' [?]

यह अभियोग लगाकर कि :
'गांधी हत्यारा था भारत की आत्मा का'
एक पागल ने हत्या कर दी थी गांधी की,
पच्चीस साल पहले ।
फिर वही अभियोग लगाकर कि :
'गांधी हत्यारा था भारत की आत्मा का'
तुला हुआ है एक दूसरा पागल*
फिर गांधी की आत्मा की हत्या करने ।
और तब प्रश्न उठता है :
क्या अभी भी शेष है गांधी के प्रति यह रोष ?
और प्रतिशोध भरा उन्मत्त आक्रोश ?
आखिर क्यों ? क्या उसने बिगाड़ा था ?
क्या गांधी एक हत्यारा था,
सचमुच एक हत्यारा था ? शायद,

---

* *आचार्य रजनीश*

शायद अभी जी नहीं मरा गांधी की उस हत्या से,
शायद अभी अधूरी है वह हत्या !
और यदि ऐसा हो तो अब भी मारो उसे,
गांधी शताब्दी का यह मौका बड़ा ही अच्छा है,
देखना, कहीं हाथ से निकल न जायँ !
इसलिए ठीक से मारो उसे,
जड़ से काट मिटाओ उसे,
उस पर अभियोग अनजान लगा लगाकर,
उसे समाधि से राजघाट की उठा उठाकर,
एक बार नहीं, अनेक बार बारबार मारो
और गहरा उसे दफनाओ -
इतना गहरा - औरंगज़ेबी-ख्वाहिशों को साथ लिए-
कि बाहर न निकल पायें कभी आवाज़ उस की,
भूले से भी न दीख पायें कभी परछाई उस की !
क्यों कि -
वह हत्यारा था,

गांधी हत्यारा था, हाँ,
गांधी हत्यारा था उस भारत का,
स्वतंत्र भारत की उस तथाकथित आत्मा का -
- वह आत्मा
वह, कि जो रक्त-प्यासी है दीन-दरिद्रों की,
और उस रक्त को मदिरा के
जामों में भरभर कर,
जो पीती है, झूमती है क्लबों में
धुनों पर जाझों की !
जो पलती है पूंजी पर अमरिकी बाजों की !!
कभी पाक, कभी रूस और कभी
चीन के मुखिया माओ की,
जो पनपती है छाया लेकर
स्मगलर, टेक्सचोर शाहों की,
जो चलती है आँख उधार लेकर
मार्क्स महर्षि माओ की,
जो फूलती है फुहारों पर,
फ्रॉइड के सेक्स बहावों की,

जो चाहती है भरमार विदेश - सी
बर्थकंट्रोल और भोगों की,
जो देती है दुहाई उठ उठकर
हिंदुपन के कौमी - रोगों की,
जो रगड़ती है प्रदेशों को जड़ता में,
भाषा - प्रान्तों के चोगों की,
जो उगलती है क्षण क्षण पर,
विद्वेषवाणी आक्रांतोंकी,
जो कुचलती है पद पद पर
आत्मा को देहातों की .... ! ! !
भारत की ऐसी एक बनावटी आत्मा,
झूठी आत्मा, भ्रमित आत्मा, तथाकथित आत्मा -
- कि जिसका गांधी हत्यारा था, बेशक हत्यारा था,
उसने, उसी आत्माने, एक दिन ....
एक दिन प्रतिशोध की आग लिए
गांधी की हत्या की !
फिर उसके अरमानों की हत्या की ! !
फिर उसकी अहिंसा की भी हत्या की ! ! !

ऒौर ऒब .... ?

ऒब उसकी शेष हस्ती की भी हत्या करने,

वह जा रही है -

उस नये पागल के शब्दों के द्वारा !

वह झूठी ऒात्मा सोचती होगी कि उसको स्वयं को

इस से शांति मिलेगी, चैन की नींद वह सो सकेगी,

लेकिन नहीं -

वह गलत समझ रही है कि,

गांधी की हस्ती प्रधानों की कुर्सियों में है,

या खद्दर की सफेद टोपियों में है,

या फाइलों - दफ्तरों - किताबों में है,

कि जिससे उसका जला डालना पर्याप्त हो जाये,

आसान हो जाये ।

मगर नहीं -

गांधी की हस्ती वहां नहीं,

गांधी की हस्ती तो वहां है -

जहाँ हर आदमी पसीना बहाता है,
जहाँ हर आदमी नेकी की खाता है,
जहाँ हर आदमी अन्यायों से जूझता है,
जहाँ हर एक प्रेम और प्रसन्नता से जीता है,
जहाँ साकार प्रेम ही गीता है .... ।
और गांधी की हस्ती;
उन दीन-दुःखियों की आहों में है,
उन शहीद-विधवाओं की कराहों में है,
मार्टिन ल्यूथर, विनोबा की सी आत्माओं में है,
निखिल विश्व के कण-कण,
जल-थल राहों-चौराहों में है !

कहां मारने जाइएगा उसे ?

जो क्षमता रखती है -
भारत की उस झूठी आत्मा को,
उसकी भ्रमणा को, भस्मसात् कर देने की !

और इसलिए -

कारण, हेतू, भ्रान्ति रहित यह,
आकांक्षा आशा का उन्नयन,
ज्ञात के पार प्रवेश है यह,
अज्ञात देश का अनुगमन।
रहा भटकता भ्रान्त मनुज,
निज परिधि में प्राक्-पुरातन,
इन सीमाओं के पार क्षितिज,
और आयाम अदृष्ट सनातन,
सांत - ससीम में होता रहा है,
अब तक उसका आप्यायन,
यह मौन भवन असीम अनंत का,
बना हुआ है एक वातायन !

हस्ती

हस्ती ही बोलती है
और मस्ती ही डोलती है,
राज़ों को खोलती है,
प्राणों को घोलती है।

अनुत्तरित अनुगूँज

कर शोर उठा है कोई, मेरे भीतर-भवन में,
झकझोर रहा है कोई, मेरे शयन - स्वपन में,
और पूछता है हरदम, प्राणों के हर कवन में:
मैं कौन ... ? मैं कौन .... ? मैं कौन .... ?

•

ग्रंथों के बीच पड़ा था, संलीन बन पठन में,
रट रट के भर रहा था, क्या-क्या स्मरण-रमण में,
पर चौंक उठा अचानक, बिज ज्यों गिरे गगन में,
और जल उठा था दामन, भर खुदी को कफन में,
झकझोर रहा था कोई, मेरे शयन स्वपन में,
और पूछता था हरदम, प्राणों के हर कवन में:
मैं कौन .... ? मैं कौन .... ? मैं कौन .... ?

क्या यह भी कोई जीवन है, सहजीवन है ?

क्या यह भी कोई जीवन है, सहजीवन है,
जिसे 'बोझ' बना मन ढ़ोता है ?
अस्खल, निश्छल, कलकल जल का क्या,
पलपल बहता यह सोता है ?
क्या यह भी ... . ?

या तो फिर फिर के लगता रहता एक,
अहंकार का गोता है ?
- जिस को नहीं घुलना आता है,
उठ उठकर जो रोता है ?
चलता पलपल जो 'माँग' लिए,
एक सुख - सुविधा का न्योता है,
दम्भ, दर्प का योग बना यह,
सौदा और समझौता है ?
क्या यह भी .... ?

कौन यहां पर अपने भीतर,
कालुष - कल्मष धोता है ?
आशा, अपेक्षा, सुरक्षा छोड़ कौन,
निरपेक्ष तार पिरौता है ?

वास्तव में 'अपने' को पाने,
कौन खुदी को खोता है ?
अपने हित को रोते यहां सब,
कौन दूसरों का होता है ?
क्या यह भी .... ?

कौन कभी राजी ही यहां पर,
हस्ती मिटाने होता है ?
खुद-परस्ती मिटाने किसने,
भीतर का हल जोता है ?
मिटकर ही फूलने फलने का,
बीज यहां कौन बोता है ?
अहंकार-संग्रह का यहां पर,
व्यर्थ बोझ वह ढोता है,
क्या यह भी .... ?

वाणी थम जाती है जहां पर,
मौन ही मुखर होता है,
ऐसे नीरव, अशेष संग का
जहाँपर पदरव होता है,

निश्शेष प्रदान का कर्म ही केवल
प्रल पल जहाँ पर पलता है,
'सहयोग', सहजीवन, प्रेम चिरंतन
अजस्र जहाँ पर चलता है -

वही तो सच्चा जीवन है, सहजीवन है,
लेकिन, क्या यह भी कोई जीवन है.... ?

बेचैन

न कहीं है मुझको चैन,
यूंही बीतत है दिन रैन
खोजते रहते सदा ये नैन:
'इन में कौन अपने, कौन गैन'?

प्रगटो, अब मोरे प्राण !

प्रगटो ... प्रगटो .... प्रगटो .... !
प्रगटो अब मोरे प्राण ! प्रभु, प्रगटो अब मोरे प्राण !
मोहे आस रही न आन ... प्रगटो !

कितने गुज़रे चाँद-सितारे, और कितने दिनमान;
बैठा हूँ मैं राह में तेरी, लिए दरश की ठान, ...
प्रगटो ॥ १ ॥

चला खोजता नज़र नज़र में : नगर नगर में :
डगर डगर में, तेरा रूप महान;
तेरा ठिकाना कोई न बतावे, घर तेरा अनजान,....
प्रगटो ॥ २ ॥

ये तन की दीवारें, ये मन की मूरत,
पर ना उनमें तेरी सूरत;
तोड़ के इन सीमाओं को अब, कर दो अनुसंधान,
... प्रगटो ॥ ३ ॥

भवन भीतर का गूँज उठा है, जाग रहा है ज्ञान;
उठतीं आवाज़ें पल पल परः 'अपने को पहचान'
.... प्रगटो ॥ ४ ॥

बातें अनकहीं

लिखी चिट्ठी चाचा* के नाम,
करने को जब था नहीं काम। लिखी चिट्ठी...

चलती गाड़ी, लम्बा सफर,
लिखना चला था चारों प्रहर,
रुकती गाड़ी थी ठहर ठहर,
पर रुके तनिक न अपने राम !
लिखी चिट्ठी....

गाड़ी के संग कथा चली,
लिखते सारी जली - भली;
पर खिल न सकी वह व्यथा - कली,
तीसरे दिन जो आया मुकाम !
लिखी चिट्ठी ...

व्यथा - कथा नहीं पूरी हुई,
रहते साथ भी दूरी हुई;
चिंता चरम एक जी को छुई :
'रख सकेंगे क्या वे दिल को थाम ?'
लिखी चिट्ठी....

---

* चाचाजी : स्व. गुरुदयाल मल्लिकजी :
गुरुदेव व गांधीजी के सहयोगी ।

भीतर की पीड़ा भीतर ही सही,
न उन को, न औरों को कही,
चिट्ठी अनप्रेषित अधूरी रही,
और वे तो चल बसे अपने धाम !
लिखी चिट्ठी ....

सुना था उन्हीं के मुख उस दिन,
'पतियां, बातें अनकहीं जिन जिन,
पहुँचती हैं जरूर कभी एक दिन।'
पहुँचेगी मेरी किस दिन ? ....किस जनम ?
.... किस ठाम ? लिखी चिट्ठी ....

किन्हें सुनायें ?

दिल में कितनी आग भरी है,
कितने दर्द और दुःखड़े।
किन्हें सुनायें अपनी कहानी,
कहां हैं ऐसे मुखड़े ?

मैं मौन जगाने आया

मैं मौन जगाने आया,
रे भाई ! शांति जगाने आया;
जो कुछ तेरे पास पड़ा है,
[उसे] देने - दिखाने आया, रे भाई ! शांति ....

छोड़ो इन शब्दों को छोड़ो,
शोरों के नातों को तोड़ो;
शब्द - शोर के पार बसा जो,
उस से मिलाने आया, रे भाई ! शांति ....

उस नीरव में शांति हस्ती,
भरी है उसमें मौन की मस्ती;
उस मस्ती से उठने वाले,
गान सुनाने आया, रे भाई ! शांति ....

मौन नीरव है, ध्यान नीरव है,
प्रेम का भी संधान नीरव है,
उस (परम) 'नीरव' में, रव के स्पंदन,
विलीन कराने आया, रे भाई ! शांति ....

मौन - अनंत का वातायन !

यह भव्य निलय है मौन भवन,
होता है जहाँ निज आत्म - मिलन,
नहीं रूप, रंग, नहीं शब्द स्फुरण,
यहाँ एक निगूढ़ नीरव गुँजन !

संवादिता का सातत्य जहाँ
और विसम्वाद का विसर्जन,
सजग स्थिति है चेतन की,
उलझन उन्माद का उन्मूलन,

आदि - अंत का सम्मिलन यह,
अपनेपन का अनुकूलन,
क्रिया संग का है शमन यह,
प्रतिक्रिया का प्रतिफलन ।

दर्शन अपना, शोधन अपना,
'कोऽहम्?' का यह उन्मीलन,
तन - मन - बुद्धि - चित्त - हृदय के
पार अंतस् का अनुशीलन !

गांधी की हस्ती मर नहीं सकती, मिट नहीं सकती,
गांधी की हज़ार हज़ार बार हत्या करने पर भी
वह कभी मिट नहीं सकती ।

लेकिन फिर भी यदि तुम्हें संतोष न होता हो,
फिर भी तुम्हारा जी नहीं भरता हो,
तो अब भी मारकर देखो उसे,
गांधी शताब्दी का यह मौका बड़ा ही ऋच्छा है,
देखना, कहीं हाथ से निकल न जाये !

इसलिए ठीक से मारो उसे,
जड़ से काट मिटाओ उसे,
उस पर अभियोग अनजान लगा लगा कर,
उसे समाधि से राजघाट की उठा उठा कर,
एक बार नहीं, अनेक बार, बार बार मारो,
और गहरा उसे दफनाओ,
क्यों कि, वह हत्यारा था !

'गांधी हत्यारा था' !!

बिन मांगे मोती मिले

अब न मांगूँगा कभी भी -
मांगने से कुछ न मिलता,
'गर मिले तो मूल्य गिरता,
आस भला किस की सधी है,
अल्प ही मांगे तभी भी ! अब न ....

ठीक कहा है कभी किसी ने,
कमनसीब याचक के सीने,
मांग क्यों उससे न लेता,
जो न ठुकराता कभी भी ! अब न ....

बिन इकरार न मांगता मन,
बिन इतबार न मानता तन,
फिर भी वह इन्कार करे तो,
लौट, भले रोके सभी भी ! अब न ....

कहा कबीर ने, आनन्दघन ने,
मांगन, मरन, समान सभी,
पैठ भीतर घट सागर में,
बिन मांगे मोती मिले अभी भी ! अब न ....

साजों के संग रंगा था, उन्मत्त, मत्त भजन में,
सूरों को ख़ोज खोता, तल्लीन बन रटन में,
जड़ कर्म में कभी ख़ो, फिरता था सूखे रण में,
साधों को साथ ले कर, क्षण क्षण के आवरण में
तब फूट पड़ा यकायक, नवघोष तन बदन में :

मैं कौन .... ? मैं कौन .... ? मैं कौन .... ?

अपने को खो रहा था, जन-जन विजन स्वजन में,
फिर खोजता अकेला, गह्वर गुहा गहन में,
और घूम घूम थका था, वन-उपवन चमन में,
और अन्त में रुका था, मूर्च्छित सुमन के तन में,
कर शोर उठा तब कोई, ज्यों मोर हो सावन में,

मैं कौन .... ? मैं कौन .... ? मैं कौन .... ?

अब लौ लगी है ऐसी हर संचरण-भ्रमण में,
वह साथ है निरन्तर प्रहरी-सा हर चरण में,
करता है प्रश्न पल पल, तन-मन के हर वरण में:
'क्या कर रहा ? क्यों है यहां ?
तू कौन संक्रमण में ?'
तब तोड़ रहा है कोई मूर्च्छा, अहं, करण में,
और जोड़ रहा है कोई निद्रा को जागरण में :
मैं कौन .... ? मैं कौन .... ? मैं कौन .... ?

उत्तर मिला न कोई, क्षण क्षण के संसरण में,
और गूँजता है प्रश्न, हर चरण और वरण में :
मैं कौन ... ? मैं कौन .... ? मैं कौन .... ?

अंतिमा

'एक गूँज उठी, अनुगूँज उठी,
नीरव-सागर से एक बूँद उठी ।'

'अनन्त की अनुगूंज' काव्य संकलन गूढ आत्मभावों का सुरम्य व सहज चित्रण है। इस में मुक्ति के लिए छटपटाहट की अभिव्यक्ति के कई माध्यम हैं। खण्डहर, तितली और पुष्प जैसे माध्यम भी। कुछेक क्षणिकाएं हैं, शेष हैं गीत व कविताएं। 'पथ के प्रहरी' में उहापोह का सजीव चित्रण है। एक चक्रवात में उलझे मन का बिम्ब है 'असीम की ओर उडान' किन्तु यह चक्रवात आतंक नहीं अल्हड झूम की सृष्टि करता है। दो-एक कविताएं संकलन से अलग-थलग बैठती हैं। यथा अमर्ष से रचीपची रचना 'क्या यह भी कोई जीवन है ?' और आक्रोश से आपूरित रचना 'गांधी हत्यारा था (?)' एक रचना 'बातें अनकहीं' श्रद्धांजलीपरक है। रचनाकार भारतीय संगीत में निष्णात है अतः स्वाभाविक है इस संकलन की रचनाएं लयवद्ध हैं। इनमें 'हमिंग'-सा आनंद है क्योंकि वे अंतर्यात्रा की रचनाएं हैं। अपने भीतर पैठने के लिए इस कृति का रसास्वादन किया जाना लाभप्रद है।

'जैन जगत'
फरवरी १९७३

'अनंत की अनुगूंज' : पारखों की दृष्टि में

किताब में आपके भीतर बैठे नाना भावों, अनुभूतियों, अनुभवों, व्यक्तियों के लिए आंतरिक ध्वनि की प्रतिध्वनि सहज, सरल, संतों की अटपटी बानी में है ।

डा. शिवनाथ

अध्यापक, विश्वभारती, हिन्दी भवन, शांतिनिकेतन

पुस्तिका में जो रचनायें हैं वे शीर्षक के अनुरूप हैं । मानवमात्र के हृदय को अनुगूंज स्पर्श करेगी ।

डा. रामसिंह तोमर

संपादक, 'विश्वभारती' पत्रिका, शांतिनिकेतन

'अनंत की अनुगूंज' की प्रत्येक रचना क्या है मधुर संगीत की अविरल धारा है । इस सुंदर रचना के लिए हार्दिक बधाइयाँ स्वीकार करें ।

डा. हिरण्मय

इन्चार्ज, स्नातकोत्तर हिंदी विभाग, बेंगलोर विश्वविद्यालय

आप की गीत कविता पुस्तक की सफलता के लिए मैं अपनी शुभकामनायें भेजता हूँ ।

मोहनलाल सुखाडिया

राज्यपाल, मैसूर राज्य, बेंगलोर

अनेक अमूर्त भावों को अभिव्यक्ति देनेवाले आपके काव्य बहुत ही पसन्द आये । मुद्रण, टाइप ध्यान आकृष्ट कर सकें वैसे सरस हैं ।

नाथालाल दवे

गुजराती कवि, साधनापथ, भावनगर

आपकी भेजी हुई पुस्तक मिली, देखी, पुस्तक बहुत अच्छी है, धन्यवाद, आशीष ।

आचार्य श्री रजनीश

VARDHA
MEDITA